
इकाई 16 सामाजिक न्यायालय

इकाई की रूपरेखा

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 शासकीय व औपचारिक संस्थाएँ
- 16.3 विधायी कार्य
- 16.4 लोक विदिष्ट का सिद्धांत
- 16.5 न्यायालयों का क्रम
- 16.6 राज्य का नियंत्रण
- 16.7 शब्दावली
- 16.8 बोध प्रश्न
- 16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
- 16.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप भारतीय न्याय परंपरा में विवादों के समाधान की अनौपचारिक व्यवस्थाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। राजकीय न्यायालयों के अतिरिक्त परिवार, जाति, ग्राम जैसी सामाजिक संस्थाएँ भी विवादों के समाधान में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। आप उनका परिचय प्राप्त करेंगे। इस इकाई में राज्य व अनौपचारिक न्याय तंत्र के संबंध की चर्चा भी की जायेगी।

16.1 प्रस्तावना

समाज में लोगों में परस्पर कई तरह का आदान प्रदान होता है और इसी से कई प्रकार के विवाद उत्पन्न होते हैं। हर सभ्य समाज को इन विवादों के समाधान के लिये उपयुक्त व्यवस्था करनी होती है। नागरिकों के आपसी झगड़े निपटाना प्रशासन का एक प्रमुख कार्य है ताकि समाज में शांति व्यवस्था बनी रहे। इसलिए बहुत प्राचीन समय से भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य को ही धर्म का रक्षक बना दिया गया है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि राजा ही धर्म का प्रतिभूत अर्थात् गारंटी देने वाला है अर्थात् वही इस बात को सुनिश्चित करता है कि लोग अधर्म को छोड़कर धर्म के मार्ग पर चलें। स्मरणीय है कि यह धर्म केवल देवताओं की पूजा और उपासना नहीं है अपितु सारा सामाजिक आचार धर्म के अंतर्गत आ जाता है। इस प्रकार मनुष्यों के परस्पर संबंधों व समस्त आदान-प्रदान का निरीक्षक, समीक्षक एवं निर्देशक राज्य को बनाया गया है। अर्थशास्त्र और धर्म शास्त्र में राजा को 18 प्रकार के विवादों का समाधान करने का अधिकार दिया गया है। इनमें पैसे के लेनदेन, क्रय-विक्रय, संपत्ति संबंधी विवादों से लेकर हत्या, लूटपाट, अपहरण व बलात्कार जैसे घोर अपराध भी सम्मिलित हैं। तथापि यह ध्यातव्य है कि आरंभिक काल से ही जहाँ एक ओर राज्य को न्याय करने का अधिकार दिया गया है वहीं भारतीय राजनीतिक चिंतन में यह चेतना भी है कि राजकीय न्यायालयों में सब विवादों का समाधान नहीं हो सकता। बहुत से झगड़े आपस में, मिलजुल कर निपटाए जा सकते हैं। कुछ झगड़े परिवार में और कुछ गली

मोहल्ले के या गांव के बड़े निपटा देते हैं। हर मुद्दा लेकर सरकारी न्यायालयों में जाने की सुविधा न अब है न पहले थी।

16.2 शासकीय व अनौपचारिक संस्थाएँ

धर्मशास्त्र वाङ्मय में राजतन्त्रात्मक शासन है अतः सब कुछ राजा के नाम से होता है। न्याय तंत्र भी राज केंद्रित है। सभी स्मृतियाँ राजा को लक्षित करके न्याय सभा की परिकल्पना प्रस्तुत करती हैं। यदि किसी कारणवश राजा स्वयं न्याय कार्य करने में असमर्थ हो तो फिर वह तीन सभ्यों के साथ किसी एक विद्वान ब्राह्मण को मुकदमे सुनने का काम सौंप सकता है। किंतु जिस विशाल राज्य की कल्पना स्मृतियाँ कर रही हैं उनमें केवल एक राजा की कचहरी पर्याप्त नहीं हो सकती। अतः स्मृतियों में ही अनेक अन्य स्तरों पर राजकीय न्यायालयों के संकेत मिलते हैं। अनेक मध्यकालीन निबन्धों में पितामह के नाम से यह पद्य मिलता है –

‘ग्रामे दृष्टः पुरं यायात् पुरे दृष्टस्तु राजनि’ – अर्थात् ग्राम में मुकदमे के निर्णय से सन्तोष न हो तो पुर में जाना चाहिये और पुर के निर्णय से सन्तोष न हो तो राजा की सभा में जाना चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि राजकीय व्यवस्था में सबसे नीचे ग्राम स्तर का न्यायालय होता था। उससे ऊपर पुर का अर्थात् संभवतः जनपद स्तर का न्यायालय होता था। उसके ऊपर राजधानी में राजा की अदालत होती थी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह बहुस्तरीय न्यायालय व्यवस्था स्पष्ट रूप में मिलती है। अर्थशास्त्र में गाँव से जिला स्तर तक अनेक प्राशासनिक संस्थाओं की योजना है। दस गाँवों का केन्द्र संग्रहण है, फिर 400 ग्रामों का केन्द्र है जिसे द्रोणमुख कहा गया है, फिर 800 ग्रामों का केन्द्र अर्थात् स्थानीय है। पैट्रिक आलिवैल ने अपने ग्रन्थ – ‘ए संस्कृत डिक्शनरी आफ लॉ एण्ड स्टेटक्राफ्ट में इसी व्यवस्था की पुष्टि की है। उन्होंने ८०० ग्रामों के केन्द्र यानि स्थानीय को प्रान्त की राजधानी कहा है जो प्रान्त का मुख्य प्राशासनिक केन्द्र होती थी। उनके अनुसार ४०० गाँवों पर स्थित – द्रोणमुख जिला स्तरीय संस्था थी। तथा दस गाँवों पर एक लघु प्राशासनिक इकाई थी – सङ्ग्रहण। इनमें से प्रत्येक में न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक में तीन तीन अमात्यों को विवादों का समाधान करने के लिये नियुक्त करने की व्यवस्था है।

स्मृतियों में राजनीतिक तन्त्र के साथ अनौपचारिक सामाजिक न्यायतन्त्र की चर्चा मिलती है। इनमें कुल, ग्राम, पूग, श्रेणी आदि शामिल हैं। इसके अतिरिक्त व्रात, संघ व गुल्म आदि का भी नाम आता है। शासकीय न्याय व्यवस्था नाना प्रकार के विधानों से बँधी हुई औपचारिक व्यवस्था है। उसकी सुनिश्चित प्रक्रियाएँ तथा मर्यादाएँ हैं। अर्थशास्त्र व धर्मशास्त्र में न्यायव्यवस्था के सन्दर्भ में न्यायालयों के लिये उचित विधि विधान या प्रक्रियाओं का विधान किया गया है। चाहे राजा हो चाहे राजा द्वारा नियुक्त सभ्य अर्थात् न्यायाधीश – सबको उन प्रक्रियाओं का पालन करना होता था। न्यायालय में मुकदमे प्रस्तुत करने की विधि व्यवहारमातृका के अन्तर्गत बताई गई है। किन्तु यह प्रक्रिया आम आदमी के लिये बहुत जटिल है। अतः भारतीय विधि व्यवस्था में ऐसे अनौपचारिक न्यायालयों का विधान भी है जो न्याय को जन साधारण के लिये सुलभ बनायें। अनेक सामाजिक संगठनों को न्याय करने का दायित्व दिया गया है। उनमें उतने नियमों व प्रक्रियाओं के प्रति प्रतिबद्धता संभव नहीं। पुनः, शासकीय न्यायालयों में नियुक्त न्यायाधीशों की योग्यताएँ देखें तो पता चलता है कि वे विविध शास्त्रों के ज्ञाता होते थे और स्वयं कई प्रकार से नैतिक व वैधानिक मर्यादाओं से बँधे होते थे। इससे न्याय व्यवस्था की विश्वसनीयता बनती थी। इसके विपरीत सामाजिक न्यायालय

सामान्य लोगों के हाथ में थे। वे अपने बुद्धि – विवेक के अनुसार निर्णय करते होंगे। अतः न्याय संबंधी ग्रन्थों में सामाजिक संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण की व्यवस्था दिखाई देती है ताकि ये अनौपचारिक संगठन भी बिना बहुत अधिक औपचारिकताओं में बँधे, स्थानीय स्तर पर न्याय के सकें।

धर्मशास्त्र में वर्णित कुछ प्रमुख सामाजिक न्यायालय ये हैं –

- कुल – अर्थात् परिवार
- श्रेणी – एक व्यवसाय करने वाले लोगों के संगठन। श्रेणी मूलतः एक व्यवसाय करने वाले वर्णियों या एक शिल्प में कुशल शिल्पियों का समुदाय था जो जाति में बदल गया।
- पूग – सभी ग्रामवासियों का संगठन
- संघ – बौद्ध या जैन भिक्षुओं के संगठन। इन्हें कहीं कहीं पाषण्ड भी कहा गया है।
- अग्रहार – ब्राह्मणों की बस्तियाँ
- गुल्म और व्रात – भाड़े के सैनिकों के संगठन

इस सूची से ज्ञात होता है कि समाज में विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रकार के संगठन कार्यरत थे। वे लोगों के सामाजिक व व्यावसायिक व्यवहार को अनुशासित करते थे। धर्मशास्त्र ने सब लोगों के संगठनों को अपने अपने क्षेत्र में काम करने की छूट दी है। इसलिये जैन व बौद्ध जैसे अवैदिक संप्रदायों को भी अपने समुदाय के भीतर अपनी मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करने का अधिकार दिया गया है।

मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने कुल का अर्थ किया है संबंधी समूह – अर्थात् परिवार के लोग ही मिलकर पहले घरेलू विवादों का समाधान कर लेते होंगे। परिवार के विवादों को परिवार में ही निपटाने के लिये पहले कुल में विवाद का समाधान करने की व्यवस्था की गई होगी। धर्मशास्त्र में यह व्यवस्था है कि सगे संबंधियों से विवाद यथासंभव परिवार में ही निपटा लिये जायें। पिता व पुत्र के विवाद में न्यायालय में गवाही देने को भी अच्छा नहीं माना गया है। फिर भी स्मरणीय है कि ऐसे विवादों को राजकीय न्यायालय में उठाना निषिद्ध नहीं है। परिवार इन विवादों के समाधान के लिये पहली इकाई हो सकता है, अंतिम नहीं। हर विवाद को अन्ततः राजकीय न्यायालय में ले जाने की व्यवस्था शास्त्रों में मिलती है। इससे पता चलता है कि भारतीय वैधानिक चिन्तन में विवादों को बढ़ाना अच्छा नहीं माना जाता किन्तु किसी का अहित हो तो उसे राज्य का संरक्षण दिया जाता है।

गण का अर्थ बताया गया है मठों में रहने वाले ब्राह्मण अर्थात् यह व्यवस्था ब्राह्मणों के मठों के विवादों के समाधान के लिए रही होगी। ब्राह्मणों के अग्रहारों अर्थात् ब्राह्मणों को दान में दिए हुए ग्रामों में कई छोटे-मोटे अपराधों के लिए दंड देने की व्यवस्था थी। श्रेणी एक व्यवसाय करने वाले लोगों का संगठन थी। श्रेणी के स्तर पर अपने व्यावसायिक और सामाजिक विवादों का निपटारा किया जाता था।

परंतु फिर यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या इन अनौपचारिक सामाजिक संगठनों को सब प्रकार के विवादों में न्याय करने का अधिकार था? क्या हत्या या लूटपाट तक के मामलों में ये राजा के स्थान पर निर्णय कर सकते थे? चण्डेश्वर ने विवाद रत्नाकर में

इसका उत्तर दिया है कि गण, समय, श्रेणी, पूग, चरण इत्यादि के जो नियम लिखित रूप में राजा द्वारा मानित हों वही लागू किये जा सकते हैं – बृहस्पति ने कहा है –

राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणीगणादयः।

साहसदृन्यायदृ वर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम॥

जो कुल, श्रेणी, गण आदि राजा को ठीक से ज्ञात हों, वे लोगों के साहस संबंधी मामलों के अतिरिक्त अन्य कार्य देखें।

अर्थात् पहली बात यह कि केवल राजा द्वारा मानित संगठन ही न्याय कर सकते थे। दूसरे, वे साहस के अन्तर्गत आने वाले अपराधों का फैसला नहीं कर सकते थे।

कृत्यकल्पतरु के लेखक लक्ष्मीधर ने बताया है कि जो लोग राजा के निर्देश के बिना मुकदमों का निर्णय करें, वे दण्डनीय हैं –

अनिर्दिष्टाश्च ये कुर्युः व्यवहारविनिश्चयम।

राजवृत्तिप्रवृत्तास्ते तेषां दण्डं प्रकल्पयेत।

समयानतिक्रम या संविद् व्यतिक्रम नामक विवाद पद के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संगठन बनाने, उनके नियम बनाने तथा सदस्यों को अनुशासित करने का अधिकार सामाजिक संगठनों के अधिकारियों को दिया गया है। किंतु यह नितांत रूप से राजतंत्र से अलग और स्वतंत्र या स्वायत्त संगठन नहीं थे। देवण भट्ट की स्मृति चंद्रिका में कहा गया है कि राजा इन सामाजिक संगठनों के श्रुति विरोधी और स्मृति विरोधी कानूनों को या लोभ आदि से दूषित अनुबंधों को निरस्त कर सकता था।

सदस्यों और प्रबंधकों के विवादों का समाधान राजा स्वयं करता था। सोमेश्वर के 1050 ईसवी के एक अभिलेख में संकेत है कि राजा सामाजिक संगठनों और उनके नियमों को विधिवत मान्यता प्रदान करता था। और उनके अधिकारियों की औपचारिक रूप से नियुक्ति राज्य अधिकारी ही किया करते थे।

16.3 विधायी कार्य

धर्मशास्त्रों में बताया गया है कि ये संगठन अपने लिये उपयोगी नियम बनाने में सक्षम थे तथा उन्हें अपने सदस्यों पर लागू भी करते थे। उदाहरण के लिये गाँव का संगठन सबको गाँव के विकास के लिये कुआँ – तलाब आदि बनाने में धन व श्रम का दान देने के लिये कह सकता है, श्रेणी यह निर्णय कर सकती है कि वह क्या वस्तु बेचेगी? सैनिकों के संगठन युद्ध करने का निर्णय कर सकते हैं। अग्रहार यह नियम बना सकता है कि गुरुदक्षिणा के लिये भिक्षाटन करने वाले ब्रह्मचारी को भिक्षा देना अनिवार्य होगा। आभीर जाति में यह नियम हो सकता है कि आभीरों में परपुरुष या परस्त्री के साथ संबंध अपराध नहीं माना जाएगा। इन उदाहरणों से पता चलता है कि सामाजिक समूहों को अपने निजी व व्यावसायिक जीवन को अपने ढंग से अनुशासित करने का अधिकार दिया गया था। यह व्यवस्था लोकतन्त्र व सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

16.4 लोकविद्विष्ट का सिद्धान्त

धर्मशास्त्र इस विषय में उदार ही नहीं बहुत क्रान्तिकारी भी है। धर्म की मर्यादा का सम्मान करते हुए भी धर्मशास्त्र यह तक कह देता है कि यदि श्रुति व स्मृति के कोई नियम सामाजिक आचार के विरुद्ध हो तो वे मान्य नहीं होंगे। याज्ञवल्क्य ने कहा है –

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु। (याज्ञवल्क्य स्मृति – १.१५६)

अर्थात् जो धर्मसम्मत नियम लोकविद्विष्ट हो, उससे स्वर्ग नहीं मिलता, उसका पालन नहीं करना चाहिये। लोकविद्विष्ट का यह सिद्धान्त धर्म में से धर्मान्धता व कट्टरता को हटाकर, उसे एक लचीली व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील व्यवस्था बना देता है।

तथापि, सामाजिक समुदायों के जो कृत्य जन सामान्य को दुष्प्रभावित करते थे वे अपराधों की श्रेणी में रखे जाते थे। जैसे व्यवसायों की श्रेणी अपने सदस्यों को नकली या मिलावटी सामान बेचने को बाध्य नहीं कर सकती क्योंकि यह अपकृत्य साहस के अन्तर्गत आ जाता है। इसी प्रकार किसी जाति को उनके सामाजिक आचार के नाम पर लूटपाट जैसे आपराधिक काम करने की छूट नहीं दी जा सकती। इसलिये धर्मशास्त्र ने राजा को अधिकार दिया है कि वह कुत्सित परंपराओं को निषिद्ध कर दे। यह समझना चाहिये कि भारतीय वैधानिक चिन्तन राजनीतिक संस्थाओं व सामाजिक संस्थाओं के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। तथा दोनों को परस्पर अनुशासित करने की व्यवस्था करता है। यह धर्मशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विचार है। जहाँ दो समान शक्ति वाली संस्थाओं में विरोध हो वहाँ दोनों को परस्पर एक दूसरे को नियन्त्रित करने की योजना ही कारगर रहती है।

16.5 न्यायालयों का क्रम

टीकाकार विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति के दूसरे अध्याय के 20वें पद्य पर अपनी टिप्पणी में कहा है कि कुल, श्रेणी और पूग यह तीन न्यायालयों का क्रम है अर्थात् पहले विवाद का समाधान कुल में अर्थात् परिवार में किया जाना चाहिए। जो पक्ष उससे संतुष्ट न हो वह श्रेणी अर्थात् अपने सामुदायिक न्यायालय या अपने समुदाय के न्यायालय या अपनी जाति के न्यायालय में जा सकता है और जो उससे भी संतुष्ट न हो वह पूग अर्थात् पूरे समूह या ग्राम के सामने अपना विवाद प्रस्तुत कर सकता है। देवण ने एक बड़ी रोचक बात कही है कि ये अनौपचारिक न्यायालय जघन्य अर्थात् हीन होते हैं। किंतु राजा के द्वारा स्थापित न्यायालय ही श्रेष्ठ होते हैं। अर्थात् सामाजिक न्यायालयों के निर्णय को राजकीय न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

बृहस्पतिस्मृति में चार प्रकार के न्यायालयों की चर्चा की गई है – शास्त्रित, मुद्रित, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। इनमें शास्त्रित न्यायालय शास्त्रों द्वारा प्रमाणित वे न्यायालय हैं जहां स्वयं राजा न्याय करता है। दूसरे स्तर पर मुद्रित न्यायालय आते हैं जो राजा की मुद्रा द्वारा स्थापित किए जाते हैं। प्रतिष्ठित न्यायालय वादी और प्रतिवादी द्वारा मिलकर स्थापित किए जाते हैं अर्थात् दोनों पक्ष मिलकर किसी को अपना विवाद सुलझाने के लिए नियुक्त कर सकते हैं। प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित अर्थ क्रमशः अचल व चल भी किया जाता है – अर्थात् प्रतिष्ठित न्यायालय एक स्थान पर स्थित रहते होंगे तथा अप्रतिष्ठित न्यायालय अलग-अलग स्थानों पर जाकर लोगों के विवादों का समाधान करते होंगे।

16.6 राज्य का नियंत्रण

आम आदमी के दैनिक जीवन में सरकार का या न्यायालयों का कितना हस्तक्षेप होना चाहिये – यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। क्या सरकार को या न्यायालयों को लोगों की जीवन पद्धति, रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करना चाहिये या सब समुदायों को अपनी अपनी मान्यताओं के अनुसार जीने का अधिकार होना चाहिये? कोई सिर पर चुन्नी पहने या कुछ खाये या किसी से विवाह करे – इन सब में राज्य का ही नहीं समाज का कितना दखल होना चाहिये ? व्यक्ति कभी राज्य का दबाव झेलता है तो कभी समाज का। जब राज्य उस पर हावी होता है तो वह अपने समाज से मदद माँगता है और जब समाज उस पर दबाव डालता है तो वह राज्य से संरक्षण चाहता है। ये विवाद जनता व राज्य को आमने सामने ला खड़ा करते हैं तो कभी व्यक्ति व समाज के बीच संघर्ष व सामाजिक अशान्ति का कारण बन जाते हैं। अतः हर सभ्य समाज को इनके उत्तर ढूँढने होते हैं। ये समस्याएँ पहले भी उठती रही हैं। प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में इनके अनेक समाधान मिलते हैं। धर्मशास्त्र समाज व राज्य के मध्य समन्वय करने का प्रयास करता है, यद्यपि इस प्रक्रिया में राज्य का पलड़ा भारी दीखता है। यह भी कहा जा सकता है कि जब राज्य सबल होता है तो वह सामाजिक संगठनों को अपने अधीन करना चाहता है पर जब राज्य दुर्बल होता है और प्रजा का रक्षण नहीं कर पाता तो सामाजिक संगठन प्रबल हो जाते हैं।

भारतीय वैधानिक परंपरा में सामाजिक न्यायालयों के कार्यक्षेत्र के विषय में बहुत चर्चा मिलती है। बृहस्पति स्मृति के अनुसार केवल राज्य द्वारा मानित सामाजिक व न्यायालय ही विवादों का समाधान कर सकते थे। दूसरे, बृहस्पति के अनुसार साहस के अंतर्गत आने वाले विवादों पर कार्यवाही केवल राजकीय न्यायालयों में ही हो सकती थी, सामाजिक न्यायालयों में नहीं। इस प्रकार बड़े अपराधों को सामाजिक न्यायालयों की परिधि से बाहर रखा गया था। स्मृति चंद्रिका ने सामाजिक न्यायालयों के कार्यक्षेत्र को और अधिक संकुचित करके कहा है कि वे, केवल समुदाय के सदस्य के रूप में किसी व्यक्ति के व्यवहार से उत्पन्न विवादों का ही समाधान कर सकते थे – जैसे समूह के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का पालन न करना, समूह के क्रियाकलाप में बाधा उत्पन्न करना आदि।

16.7 शब्दावली

प्रतिभू	– गारंटी देने वाला
साहस	– बलपूर्वक किये गये डकैती, हत्या, अपहरण व बलात्कार जैसे जघन्य अपराध
संग्रहण	– दस गांवों की प्राशासनिक इकाई का केन्द्र
द्रोणमुख	– 400 ग्रामों का केन्द्र
स्थानीय	– 800 ग्रामों का केन्द्र
कुल	– अर्थात् परिवार
श्रेणी	– एक व्यवसाय करने वाले लोगों के संगठन। श्रेणी मूलतः एक व्यवसाय करने वाले वणिजों या एक शिल्प में कुशल शिल्पियों का समुदाय था जो जाति में बदल गया।
पूग	– सभी ग्रामवासियों का संगठन

संघ	– बौद्ध या जैन भिक्षुओं के संगठन। इन्हें कहीं कहीं पाषण्ड भी कहा गया है।
अग्रहार	– ब्राह्मणों की बस्तियाँ
गुल्म और व्रात	– भाड़े के सैनिकों के संगठन
गण	– मठों में रहने वाले ब्राह्मण
अग्रहार	– ब्राह्मणों के ग्राम
ग्राम	– प्रशासन की सबसे निचली इकाई जहाँ सबसे निचले स्तर की अदालत होती थी
पुर	– जनपद स्तर का न्यायालय

16.8 बोध प्रश्न

1. मनु के अनुसार धर्म के पालन की गारण्टी कौन देता है ?
2. विवाद पद कितने हैं ?
3. विवाद पदों के दो भेद कौन से हैं ?
4. अर्थशास्त्र के अनुसार स्थानीय शासन की कितनी इकाइयाँ थीं?
5. अर्थशास्त्र में प्रान्तीय राजधानी का क्या नाम है ?
6. धर्मशास्त्र में सामाजिक संगठनों के नियम किस विवाद पद में मिलते हैं?
7. बृहस्पति ने किस प्रकार के विवादों को सामाजिक न्यायालयों के कार्यक्षेत्र से बाहर रखा है?
8. सामाजिक संगठनों की दूषित व जुगुप्सित रीतियों को रोकने का अधिकार किसे दिया गया है?
9. भाड़े के सैनिकों के संगठन क्या कहलाते हैं?
10. ब्राह्मणों के गाँव क्या कहलाते हैं ?
11. शास्त्रित व मुद्रित न्यायालयों में क्या अन्तर है?
12. चल न्यायालय किस नाम से जाने जाते हैं?
13. विश्वरूप ने किस स्मृति पर टीका लिखी है?
14. शास्त्रों के जो नियम हों उन्हें लागू नहीं किया जाता। (रिक्त स्थान भरिये)
15. सामाजिक न्यायालयों को किसने जघन्य कहा है?
16. कौटिल्य की व्यवस्था में प्रान्त स्तरीय न्यायालय को क्या कहते हैं ?
17. दोनों पक्षों द्वारा सम्मान व भेंट देकर स्वयं स्थापित न्यायालय को क्या नाम दिया गया है?

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. राजा
2. १८
3. अर्थमूलक व हिंसामूलक

न्याय, कर-प्रणाली
और अन्तर्राज्यीय
व्यवस्था

4. चार
5. स्थानीय
6. संविद् व्यतिक्रम या समयानपाकर्म
7. साहस संबंधी
8. राजा को
9. गुल्म या व्रात
10. अग्रहार
11. शास्त्रित न्यायालय राजा की अदालत थी तथा मुद्रित न्यायालय राजा की मुद्रा के अधीन स्थापित किये जाते थे।
12. अप्रतिष्ठित
13. याज्ञवल्क्य स्मृति
14. लोकविद्विष्ट
15. देवणभट्ट या देवण ने
16. स्थानीय
17. प्रतिष्ठित

16.10 उपयोगी पुस्तकें

9. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी०वी० काणे, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ